जैन दर्शन में आकाश द्रव्य का स्वरूप

डा0 अनिता जैन
प्राचार्या
जे0 ए0 वी0 गर्ल्स डिग्री कॉलेज,
बड़ौत
Email: dranitajain.61@gmail.com

सारांश

जैन दर्शन में छः द्रव्य, सात तत्व व नौ पदार्थों का विस्तृत विवेचन देखने को मिलता है, जो पदार्थ गुण और पर्याय वाला हो तथा जिसमें उत्पाद, व्यय एवं ध्रौव्य पाया जाता है; वह द्रव्य है, जो कभी नष्ट नहीं होता, वह द्रव्य है। कुल छः द्रव्य हैं– जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल। इनमें पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल अजीव द्रव्य हैं और काल के अतिरिक्त चारों द्रव्य कायिक भी हैं, जीव द्रव्य भी कायरूप हैं, इसलिये जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और आकाश इन पाँच द्रव्यों को कायरूपी होने के कारण पंचास्तिकाय कहा जाता है। ये छः द्रव्य नित्य हैं, अवस्थित हैं तथा पुदगल के अतिरिक्त सभी अरूपी है, अमूर्तिक है। धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये कभी मूर्त व उपयोग रूप नहीं होते। जीव कभी अचेतन नहीं होता और पुदगल कभी चेतन व अमूर्त नहीं होता। ये सदा जैसे है, वैसे ही बने रहते हैं।

मुख्य शब्द– *सत्, उत्पाद्, ध्रौव्य, युगपत्, पर्याय, अन्वयी, क्षणक्षयी, परिणमन, वर्तना, पुद्गल, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, पंचास्तिकाय, लोकाकाश, अलोकाकाश, उच्छेद, आधाराधेय एवं भूतनय, अवगादहान, खरविषाण, वस्तुभूत आदि।*

प्रस्तावना

जो कभी नष्ट नहीं होता वह द्रव्य है। सत् द्रव्य का लक्षण है। सत् अस्तित्व का वाची है। लोक में जितने भी अस्तित्ववान पदार्थ है, सब सत् हैं। सत् उत्पाद्, व्यय और ध्रौव्य से युक्त होता है। उत्पाद–उत्पन्न होना, व्यय–विनाश होना और ध्रौव्य स्थायित्व होना ये तीनों बातें प्रत्येक सत् में युगपत घटित होती हैं। लोक में जितने भी पदार्थ हैं, सब परिणमनशील हैं। उनमें प्रति समय नयी–नयी अवस्थाओं की उत्पत्ति होती रहती है, नयी अवस्थाओं की उत्पत्ति के साथ पूर्व की अवस्थाओं का विनाश भी होता है। यह द्रव्य का उत्पाद–व्यय है। पूर्वावास्था के विनाश और नयी अवस्था की उत्पत्ति के बाद भी पदार्थ में स्थायित्व बना रहता है, यह अवस्थिति ही ध्रौव्य है। जैसे–दूध से दही बना, दूध का विनाश हुआ, दही का उत्पाद हुआ और गोरस ध्रौव्य रहा। मिट्टी के पिंड के पर्याय का नाश होने पर घड़े के पर्याय के उत्पाद के बाद

भी मिट्टी का मूल गुण ध्रौव्य रूप में कायम रहता है। प्रत्येक द्रव्य में ये तीनों गुण एक साथ पाये जाते हैं। उत्पाद होने पर भी द्रव्य वही रहता है और व्यय होने पर भी। प्रत्येक वस्तु परिवर्तनशील है। फिर भी जो सत् है, मूलगुण है, उसका सर्वथा विनाश नहीं होता, जो सर्वथा असत् है, उसका उत्पाद नहीं होता। इस प्रकार परिवर्तनशील होते हुए भी वस्तु का मूल स्वभाव परिवर्तित नहीं होता। जीव जीव ही रहता है और अजीव, अजीव ही रहता है।

द्रव्य को गुण और पर्याय वाला भी कहा गया है। गुण अन्वयी होते हैं और द्रव्य में सदा रहते हैं और पर्याय व्यतिरेकी अर्थात क्षणक्षयी। गुण का अर्थ है–शक्ति। प्रत्येक द्रव्य में कार्य भेद से अनेक शक्तियों का अनुमान होता है। इन्हीं को गुण की संज्ञा दी गई है। ये अन्वयी स्वरूप होकर भी सदा एक अवस्था में नहीं रहते अपितु प्रति समय परिवर्तित होते रहते हैं। इनका बदलना ही पर्याय है। गुणों में होने वाले परिवर्तन को पर्याय कहते हैं। उदाहरण के लिये आम एक पदार्थ है। रूप, रस, गंध और स्पर्श उसके गुण हैं। ये आम में सदैव पाये जाते हैं, किन्तु सदा एक से नहीं रहते। हमेशा बदलते रहते हैं। उसका रंग बदलकर हरे से पीला हो जाता है, स्वाद बदलकर खट्टे से मीठा हो जाता है। गंध में भी अपेक्षित परिवर्तन होता रहता है। स्पर्श बदलकर कठोर से मृदु अथवा पिलपिला हो सकता है। पदार्थ का यह परिवर्तन ही उसकी पर्याय है। दूसरें शब्दों में हम कह सकते हैं कि अनेक परिणमनों के उपरान्त भी जो द्रव्य से भिन्न नहीं होता और सदैव उसी द्रव्य के साथ रहता है, वही उसका गुण है तथा परिणमन के बाद होने वाली द्रव्य की अवस्था (स्थिति) पर्याय है। अतः द्रव्य गुण पर्याय रूप है।

द्रव्य छः प्रकार के हैं– जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल। प्रस्तुत शोध पत्र में हमारा अभीष्ट जैन धर्म में आकाश द्रव्य का विवेचन करना है, इसलिये यहाँ हम शेष पाँच द्रव्यों का संक्षिप्त विवेचन ही करेंगे। इनका स्वरूप इस प्रकार है। इनमें केवल जीव तत्व चेतन है, शेष पाँच अचेतन द्रव्य हैं। ये सभी द्रव्य नित्य हैं, अर्थात् कभी नष्ट नहीं होते, इनके पृथक–पृथक गुणों का कभी विनाश नहीं होता है, सभी द्रव्य अवस्थित है अर्थात इनकी संख्या निश्चित है, कभी भी घट या बढ़ नहीं सकती। पुद्गल के अतिरिक्त सभी द्रव्य अरूपी हैं, अमूर्तिक है।

जीव–द्रव्य

चेतना जीव का लक्षण है। समस्त सुख–दुःख की प्रतीति इसी चेतना से होती है। इसी चेतना के आधार पर समस्त जड़ द्रव्यों से इसकी अलग पहचान होती है। आत्मा, सत्व, भूत, प्राणी आदि इसी के नामान्तर हैं। यद्यपि जीव के अस्तित्व को समस्त आत्मवादी दर्शन स्वीकार करते हैं, किन्तु उसके स्वरूप के सम्बन्ध में सबकी अवधारणायें अलग–अलग हैं। सभी दर्शनकार जीव की किसी एक विशेषता को ग्रहण कर उसे ही उसका पूर्ण स्वरूप मानते हैं, किन्तु जैन दर्शन में जीव का सर्वांगीण स्वरूप उपलब्ध होता है। जीव के सर्वांगीण स्वरूप को बताते हुए आचार्य कुन्दकुन्द ने लिखा है–

जीवोत्तिहवदिचेदा उवओग विसेसिदा पहू कत्ता।
भोत्ता य देह मेत्तो णहि मुत्तो कम्म संजुत्ता।।पञ्चास्तिकाय

"जीव चेतन स्वरूप है, वह जानने देखने रूप उपयोग वाला है, प्रभू है, कर्ता है, भोक्ता

है, अपने शरीर के बराबर है तथा यह मूर्तिक नहीं है, फिर भी कर्म संयुक्त है।"

इस गाथा में जीव के सभी प्रमुख लक्षण समाहित है। जीव दो प्रकार के हैं– संसारी और मुक्त। कर्मसहित जीव संसारी है और कर्मरहित जीव मुक्त हैं। मुक्त जीवों में कोई भेद नहीं होता। संसारी जीव चार प्रकार के हैं– नारकी, तिर्यंच, मनुष्य और देव। नारकी जीव अधोलोक में निवास करते हैं, देव ऊर्ध्वलोक में, मनुष्य हम सब है ही। मनुष्यों के अतिरिक्त पृथ्वीतल पर दिखाई पड़ने वाले समस्त पशु–पक्षी कीड़े–मकोड़े और पेड़–पौधें सभी तिर्यंच हैं। जैन धर्म के अनुसार पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि और वनस्पति में भी जीवत्व है। ये सब एकेन्द्रिय और स्थावर कहलाते हैं।

पुदगल द्रव्य

जिसमें स्पर्श, रूप, रस व गंध पाया जाता है। वह पुद्गल द्रव्य है। पुद्गल जैन दर्शन का विशिष्ट पारिभाषिक शब्द है। यह 'पुद्' और 'गल' दो शब्दों के योग से बना है। 'पुद' का अर्थ है– पूर्ण होना, मिलना/जुड़ना और 'गल' का अर्थ है– गलना, हटना, टूटना। पुद्गल, परमाणु परस्पर मिलकर अलग होते रहते हैं और अलग होकर मिलते जुड़ते रहते हैं। छः द्रव्यों में मात्र पुद्गल द्रव्य में ही संलिष्ट और विश्लिष्ट होने की क्षमता है। शेष पाँच में नहीं। इसलिये 'पुद्गल' शब्द की व्युत्पत्ति करते हुआ कहा गया है– 'पूरण गलन स्वभावात्वात् पुद्गल' अर्थात जो पदार्थ निरन्तर मिलता–गलता रहे, बनता–बिगड़ता रहे, टूटता–जुड़ता रहे, वह पुद्गल है।

संसार में जो कुछ भी हमारे देखने, छूने, चखने और सूंघने में आता है, वह सब पौद्गालिक पिंड है। स्पर्श, रूप, रस और गंध इसके विशेष गुण है। इसलिये इसे रूपी या मूर्तिक कहा जाता है। संसार की लीला पुद्गल की ही लीला है। जीव की सारी प्रवृत्तियाँ पुद्गल से ही संचालित होती है। जीव और पुद्गल का अनादिकालीन सम्बन्ध है। पुद्गल के बिना जीव क्षण भर भी संसार में नहीं रह सकता। पुद्गल–जगत से सम्बन्ध विच्छेद होने पर ही जीव की मुक्ति संभव है।

धर्म–द्रव्य

यह पाप और पुण्य के अर्थ में प्रयुक्त न होकर जैन दर्शन का एक परिभाषिक शब्द है। यह एक स्वतन्त्र द्रव्य है, जो गतिशील जीव और पुद्गल के गमन में सहकारी होता है। धर्म–द्रव्य समस्त लोकव्यापी अखण्ड द्रव्य है। तिल में तेल की तरह यह पूरे लोक में व्याप्त है, इसमें रूप, रस, गन्ध और स्पर्श का अभाव होने से यह अमूर्तिक भी है। रेल के चलने में सहायक रेल की पटरी की तरह यह बलात् या प्रेरित कर किसी को नहीं चलाता अपितु चलते हुए जीवों और पुद्गलों के चलने में सहायक होता है। धर्म द्रव्य की मान्यता अन्य दर्शनों में नहीं है, किन्तु आधुनिक, विज्ञान इसे ईथर के रूप में स्वीकार करता है। आधुनिक विज्ञान, ईथर को अमूर्तिक, व्यापक, निष्क्रिय और अदृश्य मानने के साथ–साथ उसे गति का आवश्यक माध्यम मानता है। जैन धर्म मान्य धर्म द्रव्य का भी यही लक्षण है।

अधर्म द्रव्य

जिस प्रकार जीवों और पुद्गलों की गति में धर्म द्रव्य सहायक है। उसी प्रकार अधर्म

द्रव्य उनके ठहरने में सहायक है। यह भी निष्क्रिय और अमूर्त है। जैसे वृक्ष की छाया चलते हुए पथिक को नहीं रोकती, पर वह स्वयं रूकना चाहे तो उसे अपनी छाया अवश्य देती है। उसी प्रकार अधर्म द्रव्य भी किसी को बलात नहीं रोकता, अपितु पदार्थ स्वयं रूकना चाहे तो उसमें सहायी बन जाता है।

संसार के निर्माण के लिये गति और स्थिरता के नियमों में बद्ध होना आवश्यक है। यदि धर्म द्रव्य न हो तो हम चल ही नहीं सकेंगे। अधर्म द्रव्य न हो तो हम ठहर नहीं सकेंगे। लोक और अलोक का विभाजन भी इन दोनों द्रव्यों के आधार पर ही हो पाता है। क्योंकि जहाँ तक पदार्थ स्थित है, वहीं तक लोक है तथा लोक वहीं तक है, जहाँ तक पदार्थों की गति।

काल द्रव्य

काल भी द्रव्य है। यही वह द्रव्य है, जिसके निमित्त से अन्य द्रव्य अपनी पुरानी अवस्था को छोड़कर प्रतिक्षण नया रूप धारण करते हैं। वर्तना इसका प्रमुख लक्षण है। यह पदार्थों में बलात् परिवर्तन नहीं कराता, बल्कि इसकी उपस्थिति में पदार्थ स्वयं परिणमन करते हैं। यह तो कुम्हार के चाक के नीचे रहने वाली कील की तरह है, जो स्वयं नहीं चलती और न ही चाक को चलाती है, फिर भी कील के अभाव में चाक घूम नहीं सकता। चाक के घूमने के लिये कील का आलम्बन आवश्यक है। काल द्रव्य की यही भूमिका है। परिणमनगत इस आलालम्बन को वर्तना कहते है। यह काल द्रव्य का मुख्य लक्षण है। इसे ही निश्चय काल कहते हैं। समय, पल, घड़ी, घंटा, मिनट आदि व्यवहार काल है। नया–पुराना, छोटा–बड़ा, दूर–पास आदि का व्यवहार इस व्यवहार काल नामक द्रव्य के ही आश्रित है। इसका अनुमान सौर मण्डल एवं घड़ी आदि के माध्यम से लगाया जाता है। द्रव्यों के होने वाले परिणमन से भूत, भविष्य और वर्तमान का व्यवहार भी इसी काल के आश्रित है।

हमारा शोध का विषय है– 'जैन दर्शन में आकाश द्रव्य का स्वरूप इसलिये अब हम आकाश द्रव्य का विस्तारपूर्वक विवेचन करने का प्रयास करेंगे।

लोक में जीव, पुद्गल और शेष समस्त द्रव्यों को जो सम्पूर्ण अवकाश देता है, वह आकाश है।[1] इस प्रकार आकाश को जीव और अजीव दोनों द्रव्यों के अवगाह में निमित्त कहा जा सकता है।[2] धर्म, अधर्म, आकाश, पुद्गल और काल यें पाँच अजीव तत्व है।[3] इनसे भिन्न जीव तत्व हैं। आधेय पदार्थों की अपेक्षा आकाश द्रव्य के भी दो भेद है– (1) लोकाकाश (2) अलोकाकाश। जिस आकाश–खण्ड में धर्म, अधर्म, काल, पुद्गल तथा जीव ये पाँचों द्रव्य व्याप्त हैं उसे लोकाकाश कहते हैं। अलोकाकाश में ये पाँच द्रव्य नहीं है।[4] चूँकि इसमें जीवाजीवात्मक अन्य पदार्थ दिखाई नहीं देते, अतः यह लोकाकाश इस नाम से प्रसिद्ध है। गति और स्थिति में कारण धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय का अभाव होने से अलोकाकाश में जीव और पुद्गल की न गति ही है और न स्थिति ही है। अलोकाकाश के मध्य असंख्यात प्रदेषी तथा लोकाकाश से मिश्रित अनादि लोक हैं। काल द्रव्य तथा अपने अवान्तर विस्तार सहित अन्य समस्त पंचास्तिकाय चूंकि इसमें दिखाई देते हैं, इसलिए यह लोक कहलाता है।[5] लोक, अलोक की एक अन्य परिभाषा उपलब्ध होती है– जो अनन्त अलोकाकाश के मध्य स्थित है तथा जहाँ बन्ध और मोक्ष का फल

भोगा जाता है, उसे लोक कहते है। इस लोक में ऊर्ध्व, मध्य और पाताल के भेद से तीन भेद gSAy ksd d sc hgj t ksv kd k'k gSm l sv y ksd d gr sgSA[6]

जीव, पुद्गलकाय, धर्म, अधर्म (तथा काल) लोक से अनन्य है। अन्तरहित आकाश लोक से अनन्य भी हैं तथा अन्य भी है।[7] इसका तात्पर्य यह है कि लोक के बाहर जो आकाश है, वह लोक से अन्य है और लोक में जो आकाश है, वह उससे अनन्य है। आकाश के अनन्त प्रदेश है।[8] प्रदेशों की यह संख्या लोकाकाश और अलोकाकाश दोनों को मिलाकर बतलाई गई है। अकेले लोकाकाश के तो धर्म, अधर्म अथवा एक जीवद्रव्य के प्रदेशों के बराबर अर्थात् असंख्यात ही प्रदेश हैं।[9]

अनन्त होने से आकाश अज्ञेय है। यदि अनन्त को सर्वज्ञ ने जाना है तो अनन्त का ज्ञान के द्वारा अन्त जान लेने पर अनन्तता नहीं रहेगी और यदि नहीं जाना है, तो सर्वज्ञता नहीं रहेगी।

आकाश अतिशय ज्ञानशाली सर्वज्ञ के द्वारा दृष्ट होता है। सर्वज्ञ का क्षायिक ज्ञान अनन्तानन्त है। उसके द्वारा अनन्त का अनन्त के रूप में ही ज्ञान हो जाता है। अन्य लोग सर्वज्ञ के उपदेश से तथा अनुमान से अनन्तता का ज्ञान कर लेते हैं। सर्वज्ञ ने अनन्त को अनन्त रूप से ही जाना है। अतः मात्र सर्वज्ञ द्वारा ज्ञात होने से उसमें सान्तत्व नहीं आ सकता। प्रायः सभी वादी अनन्त भी मानते है और सर्वज्ञ भी। बौद्ध लोकधातुओं को अनन्त कहते है। वैशेषिक दिशा, काल, आकाश और आत्मा को सर्वगत होने से अनन्त कहते हैं। सांख्य प्रकृति और पुरूष को सर्वगत होने से अनन्त कहते हैं। इस सब का परिज्ञान होने मात्र से सान्तता नहीं हो सकती। अतः अनन्त होने से अपरिज्ञान का दोष ठीक नहीं है। यदि अनन्त होने से पदार्थ को अज्ञेय कहा जायेगा तो सर्वज्ञ का अभाव हो जायेगा, क्योंकि ज्ञेय अनन्त है। अतः उनको कोई जान ही नहीं सकेगा। यदि पदार्थों को सान्त माना जाता है। तो संसार और मोक्ष दोनों का लोप हो जायेगा। यदि जीवों को सान्त माना जाता है, तो जब सब जीव मोक्ष चले जायेंगे, तो संसार का लोप हो जायेगा। यदि संसारोच्छेद के भय से मुक्त जीवों का पुनः संसार में आगमन माना जाये तो मोक्ष का भी उच्छेद हो जायेगा। एक–एक जीव में कर्म और नोकर्म पुद्गल अनन्त है। यदि उन्हें सान्त माना जाये तो भी संसार और मोक्ष दोनों का उच्छेद हो जायेगा। इसी तरह अतीत और अनागत काल को सान्त माना जाय तो पहले और बाद में कालव्यवहार का अभाव ही हो जायेगा। पर यह युक्तिसंगत नहीं है; क्योंकि असत् की उत्पत्ति और सत् का विनाश दोनों ही अयुक्तिक है। इसी तरह आकाश को सान्त मानने पर उससे आगे कोई ठोस पदार्थ मानना होगा। यदि नहीं तो आकाश ही आकाश मानने पर सान्तता नहीं रहेगी।[10]

जिस प्रकार आकाश अवकाश देता है, उसी प्रकार उसे गति और स्थिति का भी हेतु मान लो तो क्या हानि है?

यदि ऐसा मानोगे तो ऊर्ध्वगतिप्रधान सिद्ध भगवान् लोक के अन्त में स्थित नहीं रहेंगे। इसके अतिरिक्त आकाश जीव और पुद्गलों की गति और स्थिति का हेतु हो तो अलोक की हानि का और लोक के अन्त की वृद्धि का प्रसंग आयेगा।[11]

इस प्रकार यदि लोक और अलोक की सीमा की व्यवस्था मानना है, तो आकाश को

गति और स्थिति का हेतु नहीं माना जा सकता।[12]

जैसे धर्मादि द्रव्यों का लोकाकाश आधार है, उसी प्रकार आकाश का भी आधार होना चाहिए?

धर्मादि द्रव्यों का जैसे लोकाकाश आधार है, उस तरह आकाश का अन्य आधार नहीं हैं, क्योंकि उससे बड़ा दूसरा द्रव्य नहीं है, जिसमें आकाश आधेय बन सके। अतः सर्वतः अनन्त यह आकाश स्वप्रतिष्ठ है। इस तरह अनवस्था–दोष भी नहीं आता। आकाश का अन्य आधार, उसका अन्य, उसका भी अन्य आधार मानने में अनवस्था होती है। एवं भूतनय की दृष्टिसे देखा जाय तो सभी द्रव्य स्वप्रतिष्ठित ही हैं, इनमें आधाराधेय भाव नहीं है। व्यवहार से ही आधाराधेयभाव की कल्पना होती है। व्यवहार से ही वायु के लिये आकाश, जल को वायु, पृथ्वी को जल, सब जीवों को पृथ्वी, जीव के लिए अजीव, अजीव के लिए जीव, कर्म के लिए जीव, जीव के लिए कर्म तथा धर्म, अधर्म और काल के लिए आकाश आधार माना जाता है। परमार्थ से आकाश की तरह वायु आदि भी स्वप्रतिष्ठ ही है।[13]

सूक्ष्म पुद्गल परस्पर अवकाश देते है। अतः अवकाश देना आकाश का असाधारण लक्षण नहीं हो सकता, क्योंकि दूसरे पदार्थों में भी इसका सद्भाव पाया जाता है।

आकाश द्रव्य सब पदार्थों को अवकाश देने में साधारण कारण है। यही इसका असाधारण लक्षण है, इसलिए कोई दोष नहीं है।[14] अलोकाकाश में यद्यपि अवगाही पदार्थ नहीं हैं तो भी आकाश का अवगाहदान स्वभाव वहाँ भी विद्यमान है। जैसे जल में अवगाहन करने वाले हंस आदि के अभाव में भी अवगाह देना स्वभाव बना रहता है।[15]

एक परमाणु जितने आकाश प्रदेश में रहता है, उतने आकाश को आकाश– प्रदेश के नाम से कहा जाता है और वह समस्त परमाणुओं को अवकाश देने में समर्थ है।[16]

आकाश अविभागी एक द्रव्य है, उसमें अंशकल्पना नहीं हो सकती है।

आकाश एक द्रव्य है, फिर भी उसमं अंशकल्पना हो सकती है, क्योंकि यदि ऐसा न हो तो सर्वपरमाणुओं को अवकाश देना नहीं बन सकता। ऐसा होने पर भी यदि आकाश के अंश नहीं होते, ऐसी किसी की मान्यता हो तो आकाश में दो अंगुलियाँ फैलाकर बताइए कि दो अंगलियों का एक क्षेत्र है या अनेक? यदि एक है ता प्रश्न होता है कि आकाश अभिन्न अंशों वाला अविभागी एक द्रव्य है, इसलिए दो अंगुलियों का एक क्षेत्र है या भिन्न अंशों वाला एक द्रव्य है इसलिए? यदि आकाश अभिन्न अंशों वाला अविभाग एक द्रव्य है इसलिए दो अंगुलियों का एक क्षेत्र है। ऐसा कहा जाय तो जो अंश एक अंगुली का क्षेत्र है, वही अंग दूसरी अंगुली का भी है, इसलिए दो में से एक अंश का अभाव हो गया। इस प्रकार दो इत्यादि अंशों का अभाव होने से आकाश परमाणु की भांति प्रदेशमात्र सिद्ध हुआ। यदि यह कहा जाये कि आकाश भिन्न अंशों वाला अविभाग एक द्रव्य है तो अविभाग एक द्रव्य में अंशकल्पना फलित हुई।

यदि यह कहा जाय कि दो अंगुलियों के अनेक क्षेत्र है तो प्रश्न होता है कि आकाश सविभाग अनेक द्रव्य है? इसलिए दो अंगुलियों के अनेक क्षेत्र है या आकाश अविभाग एक द्रव्य होने पर भी दो अंगुलियों के अनेक क्षेत्र हैं? यदि आकाश सविभाग अनेक द्रव्य होने से दो

अंगुलियों के अनेक क्षेत्र हैं ऐसा माना जाय तो आकाश जो कि एक द्रव्य है उसमें अनन्त द्रव्यत्व आ जायेगा। यदि आकाश विभागी एक द्रव्य होने से दो अंगुलियों का अनेक क्षेत्र है ऐसा माना जाय तो यह योग्य ही है; क्योंकि अविभाग एक द्रव्य में अंशकल्पना फलित हुई।[17]

आकाश का खरविषाण की तरह अभाव है; क्योंकि वह उत्पन्न नहीं हुआ है?

आकाश को अनुत्पन्न कहना असिद्ध है; क्योंकि द्रव्यार्थिक की गौणता और पर्यायार्थिक की मुख्यता होने पर अगुरूलघु गुणों की वृद्धि और हानि के निमित्त से स्वप्रत्यय उत्पाद व्यय और अवगाहक जीव पुद्गलों के परिणाम के अनुसार परप्रत्य उत्पाद व्यय आकाश में होते ही रहते है। जैसे कि अन्तिम समय में असर्वज्ञता का विनाश होकर किसी मनुष्य को सर्वज्ञता उत्पन्न हुई तो जो आकाश पहले अनुपलभ्य था वही पीछे सर्वज्ञ को उपलभ्य हो गया, अतः आकाश भी अनुपलभ्यत्वेन विनष्ट होकर उपलभ्यत्वेन उत्पन्न हुआ। इस तरह उसमें परप्रत्यय भी उत्पाद–विनाश होते रहते है। खरविषाण भी ज्ञान और शब्द रूप से उत्पन्न होता है तथा अस्तित्व में भी है। अतः दृष्टान्त साध्यसाधन उभयधर्म से शून्य है। कोई जीव जो पहले खर था, मरकर गौ उत्पन्न हुआ और उसके सींग निकल आए। ऐसी दशा में एक जीव की अपेक्षा अर्थरूप से भी खरविषाण प्रयोग हो ही जाता है। अतः आकाश का अभाव नहीं किया जा सकता।[18] बौद्धदर्शन में आकाश को आवरणाभाव माना है तथा उसे असंस्कृत धर्मों (जिनमें उत्पाद विनाश नहीं होता) में गिनाया है।[19] जैन दर्शन में आकाश को आवरणाभाव मात्र नहीं माना है। अपितु वस्तुभूत माना है। बौद्धों के यहाँ जैसे नाम और वेदना आदि अमूर्त होने से अनावरण रूप होकर भी सत् हैं, उसी प्रकार जैन–दर्शन में आकाश भी सत् है।[20]

सांख्य आकाश को प्रधान का विकार मानते है। उनका ऐसा मानना ठीक नहीं है; क्योंकि नित्य, निष्क्रिय और अनन्त प्रधान के आत्मा की तरह विकार ही नहीं हो सकता, न उसका आविर्भाव ही हो सकता है और न तिरोभाव ही। सांख्यों ने प्रधान को सत्व, रजस् और तमस् इन तीन गुणों की साम्य–अवस्था रूप माना है। उसमें उत्पादक स्वभावता है, इसी के विचार महत् आदि है, आकाश भी उसी का विकार है। सांख्यों का यह कथन अयुक्त है, क्योंकि जिस प्रकार घड़ा प्रधान का विकार होकर अनित्य, मूर्त और असर्वगत है उसी प्रकार आकाश भी होना चाहिए या फिर आकाश की तरह घट को नित्य अमूर्त और सर्वगत होना चाहिए। एक कारण से दो परस्पर विरोधी विकार नहीं हो सकते।[21]

संदर्भ ग्रंथ

1– सव्वेसिं जीवाणं सेसाणं तह य योग्गलाणं च।
जं देदि विवरमखिलं तंलोगे हवदि आगासं।।कुन्दकुन्दः पंचास्तिकाय, गाथा 90

2– नभोऽवगाहहेतुस्तु जीवाजीवद्धयोस्सदा। जिनसेनः हरिवंशपुराण 58/55

3– धर्माधर्मौतथाकाशं पुद्गलाः कालएव च।
पञ्चाप्यजीवतत्वनि सम्यग्दर्शनागोचराः।। हरि 58/53

4– जटासिंहनन्दिः वरांगचरित 26/31–32

5– हरिवंशपुराण 4/2–5

6– बन्धमोक्षफलं यत्र भुज्यते तत् त्रिधाकृतम्।
अन्तः स्थितं जगौ लोकमलोकं च बहिः स्थितम्। हरि 2/110

7– जीवापुग्गलकाया धम्माधम्मा यलोगदोणष्णा।
तत्तो अणण्णमण्णंआया सं अन्तवदिरित्तं।।कुन्दकुन्दः पंचास्तिकाय गाथा 91

8– आकाशस्यानन्ताः। त0सूत्र 5/9

9– लोकालोकाशस्यानन्ताः प्रदेशाः। लोकाकाशस्य तु धर्माधर्मैकजीवतुल्या–
उमास्वातिः तत्वार्थाधिगम भाष्य 5/9

10– अकलंकदवेः तत्वार्थवार्तिक 5/9/3–5

11– पंचास्तिकाय गाथा 92–94

12– आकाशस्य गतिस्थितिहेतुत्वाभावे हेतूपन्यासोऽयम्।
नाकाशं गतिस्थितिहेतुःलोकालोकसीमव्यवस्थायास्तथोपपत्तेः।।
अमृतचन्द्राचार्यः पंचास्तिकाय गाथा 94 की समय व्याख्या

13– अकलंकदवेः तत्वार्थवार्तिक 5/12/2–6

14– पूज्यपादः सर्वार्थसिद्धि व्याख्या 5/18

15– अकलंकदवेः तत्वार्थवार्तिक 5/18/8–9

16– आगासमणुणिविट्ठं आगासपदेस सण्णया भणिदं।
सब्बेसिं च अणूणं सक्कदि तं देदुमवगासं।। कुन्द कुन्दःसमयसार गाथा 140

17– प्रवचनसार गाथा 140, व्याख्याकार अमृतचन्द्राचार्य

18– अकलंगदेव तत्वार्थवार्तिक 5/18/10

19– बलदेव उपाध्यायः बोद्धदर्शन पृ0 239

20– तत्वार्थवार्तिक 5/18/10

21– वही 5/18/13